



क्या भाषा थोपने की चीज है

परिमळा अंबेकर

parimalaambekar@yahoo.in

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, गुलबर्गा विश्वविद्यालय, कर्नाटक

बेंगलूरू मेट्रो से आरंभ हुआ हिंदी-कन्नड़ का भाषाई विवाद आजकल फिर से कर्नाटक की राजधानी और आस-पास के प्रदेशों में तूल पकड़ रहा है। मेट्रो स्टेशनों में हिंदी नेम-बोर्ड की आवश्यकता या स्टेशनों की जानकारी के विषय के बोर्ड में हिंदी के प्रयोग आदि की अनिवार्यता की बात जब उठी तो इस प्रश्न को केंद्र और राज्य सरकार की परियोजना के तहत बाँट कर केवल कन्नड़ और अँग्रेजी में ही नाम एवं सूचना फलकों के प्रयोग के विषय को न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न किया गया। यह कहा गया कि मेट्रो राज्य सरकार की परियोजना है और राज्य सरकार का यह अधिकार बनता है कि वह केवल अँग्रेजी या कन्नड़ भाषा का ही प्रयोग करे। केंद्र सरकार इस विषय में हिंदी बोर्ड की अनिवार्यता को लेकर नाक नहीं अड़ा सकती।

तात्कालिक समर्थन के लिए केंद्र और राज्य सरकार की परियोजनाओं को देखना तो ठीक रहा, लेकिन उसके भी परे यह सवाल गंभीरता से हमसे उत्तर मांगता है कि क्या भाषाई अनिवार्यता को, और वह भी बेंगलूरू जैसे महानगर में – जो आज देश के हर कोने से श्रमिक मजदूरों से लेकर आईटी बीटी सेक्टर के शिक्षित लोगों को अपनी ओर खींच रहा है- लोगों की सुविधा के लिए नेम बोर्ड और सूचना-फलक आदि में कन्नड़ और अँग्रेजी के साथ हिंदी के प्रयोग को लेकर आपत्ति जताना कहाँ तक जायज है। दूसरा सवाल भी यह खड़ा होता है कि बेंगलूरू की जनता या बेंगलूरू की सरकारी व्यवस्था जो आज मेट्रो में या अन्य सार्वजनिक स्थलों में हिंदी के प्रयोग को केंद्र सरकार द्वारा हिंदी को थोपना की साजिश मानते हैं, क्या वे इस

प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं – इसी मेट्रो के बनकर तैयार होते समय क्या आपने कोई ऐसी भाषाई नीति लागू की थी, जिसके चलते केवल और केवल कन्नड़ के ही श्रमिक और मजदूरों को ही इसमें काम मिले। जब मेट्रो की अंतरिम जालें बिछ जाती है और आलीशान बंगले, मॉल, कांप्लेक्स भूताकार रूप में बनकर खड़ी हो जाती हैं, तो क्या प्रवासी मजदूर और श्रमिक और तकनीक के विविध क्षेत्रों में काम करने वालों का बस इतना ही अधिकार बनता है कि वे केवल पैसे के लिए काम करें, अपने आप को कर्नाटक का हिस्सा न माने। इस मेट्रो का हिस्सा न माने?

हिंदी प्रदेशों से हटकर दूसरे प्रदेशों में याने अहिंदी भाषाई क्षेत्रों में, हिंदी का प्रयोग केवल और केवल उनके रोजमर्रा जीवन के सहूलियत के लिए है और यह कोई भाषाई अधिसंरचना को स्थापित करने के हेतु नहीं? कर्नाटक की जनता हिंदी के प्रयोग की अनिवार्यता को कन्नड़ की अस्मिता और अस्तित्व के सवाल से जोड़कर देख रही है और जो सरासर गलत है? कर्नाटक में कन्नड़ भाषा यहाँ के लोगों की संस्कृति है उनका जीवन लय है। वह जातीय जीवन, धर्म, समाज और शैक्षिक अस्मिता का रूप है। केवल आदान-प्रदान और संप्रेषण की सुविधा के लिए प्रयोगित हिंदी भाषा को लेकर भाषाई सत्ता के प्रश्न को उठाना या उसकी बर्बरता डर या खौफ को लोगों के दिलों में पनपाना सरासर गलत है और सिद्धांत आधारित न होकर केवल राजनीति प्रेरित है। ऐसा करना कर्नाटक का जनजीवन और यहाँ की साँस्कृतिक चेतना के विरुद्ध भी है। कर्नाटक की जनता हमेशा से सर्वजातीय समभाव की तरह ही सर्वभाषाई समभाव के विशाल दृष्टिकोण को सदियों से रखते आ रही है। साथ ही कर्नाटक राज्य सुरक्षा और स्तरीय शैक्षणिक संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए उत्तरीय राज्यों की तुलना में अपने आप को एक आदर्शप्राय राज्य के रूप में स्थापित भी किया है। यही तो कारण है जो आज के संदर्भ में अपना कर्नाटक बाहरी राज्यों के समाज को अधिक आकर्षित कर रहा है। विश्वस्तर पर अपने औद्योगिक और तकनीक क्षेत्र में अद्वितीय विकास को रेखांकित करने वाले कर्नाटक के बेंगलुरु जैसे महानगरों में उठ रहीं इन भाषाई विवादों को सरकार को चाहिए कि इस अंश को वह अतीव सूक्ष्मता और संवेदनीयता से सुलझाए। अधिक प्रतिशतया प्रवासी जनता की भाषाई आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर इस प्रश्न को शुद्ध व्यावहारिक स्तर पर सुलझाए। किसी दलगत चुनावी मंशा या राजनयिक

षडयंत्रकारी नीतियों के दबाव में आकर, हिंदी भाषा के प्रयोग को कन्नड़ की अस्मिता के प्रश्न से जोड़कर देखने की निहायत ही गलत कदम कदापि न उठाए।

कन्नड़ की जनता को आज यह चाहिए कि वे हिंदी भाषा के प्रति भाषाई वर्चस्ववादी नीतियों के चलते अपनी विचार चेतना को केंद्रित करने के पीछे लगे राजकीय हितासक्तियों को पहचाने। दक्षिण का प्रदेश कभी उत्तरी राजकीय केंद्रित सरकारी सत्ता का उपनिवेश नहीं बना है और दक्षिण के हर राज्य में हम स्वतंत्र और स्वायत्त सरकारी और गैर-सरकारी-संगठनों का आरंभ और उनके विकास को देखते ही आ रहे हैं। कभी दक्षिण का कोई भी राज्य उत्तर की उपनिवेशी दबदबे को स्वीकार करना तो दूर उस तरह की मानसिकता को शासित प्रदेशों की जनता या वहाँ की केंद्रित शासन व्यवस्था में पनपने का स्पेस कभी नहीं दिया। दक्षिण के पंचद्रविड़ भाषाई प्रदेश अपने आरंभकाल से ही स्वतंत्र धार्मिक एवं साँस्कृतिक अस्मिता के साथ साथ भाषाई पहचान को भी बनाए रखे हैं। संविधान के तहत हिंदी को राज्यभाषा के रूप में स्वीकारता मिलकर उसके प्रचार-प्रसार संबंधी अनेक केंद्र सरकार के लगभग पचास से भी अधिक वर्षों की नीतियों के चलते हुए भी, हिंदी कभी दक्षिण के भूभागों की नस-नड़ियों में नहीं समा सकी है। दक्षिण वाले हमेशा से ही हिंदी भाषा का प्रयोग केवल कामचलाऊ तक यानी केवल उसे एक औजार के तहत ही उपयोग में लाते आए हैं, उसे अपनी संस्कृति का हिस्सा बनने कभी नहीं दिया। दक्षिण के भूभागों में प्रचलित कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मलियालम, तूलू आदि भाषाएँ अपनी जनपदीय जीवन के मुखर रूप हैं। यहाँ की धार्मिक एवं साँस्कृतिक परंपरा के धरोहर हैं। ये वे ही भाषाएँ जो अपनी मिट्टी के शास्त्रीय एवं जनपदीय जीवन की अस्मिता को बनाए और बचाते आए हैं।

मेरा प्रश्न यही है कि क्या हमें अपनी भाषाई चेतना को दुकानों पर लगे बोर्ड, मार्गसूची पत्थर या सार्वजनिक उपभोक्ताओं की सूचना के लिए प्रायोगिक भाषा तक ही अतीव कमजोर और असाँस्कृतिक घेरे में बंद कर देना है। क्या अपनी दक्षिण की भाषाई जीवन के लिए, इन सीमित और अतीव व्यावहारिक सामाजिक जीवन में प्रयोग की जाने वाली हिंदी भाषा से ही खतरा है। ऐसा करने देने से क्या वह अपनी प्रादेशिक भाषाई अस्मिता की ही खटिया खड़ी कर सकती है। नहीं कभी नहीं, क्योंकि, भाषा इन सबसे परे एक ऐसी व्यवस्था है और जो रोजमर्रा के जीवन एवं रोजगार की आवश्यकताएँ, सामाजिक व्यवहार, धार्मिक

एहसास और सबसे बढकर आर्थिक समीकरण के-अनुकूलन ढलकर जनजीवन के बुनियाद में तरलित रहता है। देश की भाषाओं का समीकरण आपस में टकरा नहीं सकते, एकमेक सम्मिलन हर स्तर पर हर सीमा पर अनिवार्य है? बाहरी राज्यों से आने वाले या अपने राज्य से-बाहरी राज्यों में जाने वाले प्रवासी लोग, सीमावर्ती प्रदेश के लोग हमेशा से इस ढंग की भाषाई समस्याओं से जूझते ही आ रहे हैं? यह हर राज्य का कर्तव्य ठहरता है कि प्रवासी लोगों की और सीमावर्ती प्रदेश के जनजीवन की भाषाई समस्याओं का अपने ही तहत समाधान करें? या आपसी साझेदारी के कानूनी नियम एवं योजनाओं को पारित करें, ताकि भाषा को लेकर उठने वाले इन सवालों पर कोई भी राजनीति न कर सकें।

भाषाई मुद्दे और उनसे जुड़े सवालों के राजनीतिक समाधान जरूर हो, लेकिन वे कभी पार्टियों के चुनावी एजेडें न बने। महाराष्ट्र में मराठी को लेकर, तमिलनाडु में तमिल को लेकर, कर्नाटक में कन्नड़ को लेकर उठने वाले विवादों के पीछे की विडंबना यही रही है। ये भाषाई अस्मिता की चिंता के सवाल कम बनाम पार्टियों के भविष्य और चुनावी प्रचार के मुद्दे अधिक ठहरते नजर आते हैं। यूँ तो कर्नाटक का राजनीतिक इतिहास कन्नड़-हिंदी के सवाल से उतना आशंकित कभी नहीं रहा, जितना इस वर्ष के चुनावी तैयारी में लगी पार्टियाँ अपनी भावी तैयारियों में राज्य के अन्य आवश्यक विवादों, के साथ साथ अनावश्यक भाषाई विवाद को तूल देने पर तुली लग रहीं हैं। मेट्रो के चलते लगे हाथ चुनावी रैलियों में भी हिंदी के प्रयोग को लेकर आपत्ति के स्वर उठते दिख रहे हैं। कन्नड़ संरक्षण एवं विकास से भी अधिक चिंता हिंदी के विरोध का दिखायी पड़ रही है।

भाषा की शक्ति केवल लोगों को बरगला कर वोट हथियाने की ही होती तो, वह कब की हो चुकी होती। भाषा की शक्ति को इतना कमतर कर आँकना उसकी परिवर्तनशील और प्राकृतिक शक्ति के प्रति अपमान ही होगा। केवल हिंदी में भाषण या संवाद से, अहिंदी राज्य का राजनयिक लोक, अपने हाथ से सत्ता के चले जाने या न आने के डर को अगर पालने लग जाय, तो राज्यों की राजनीति के भविष्य का क्या होगा। कोई भी भाषा सरकार या पार्टियों के काम और बल को आँकने का मशीन नहीं। यह काम तो उस राज्य की जनता तय करेगी कि कौन सरकार में आए या किसका तरक्ता पलट जाय। हिंदी नहीं। देश के सवा सौ

करोड़ जनता के मध्य में आपसी संपर्क प्रदान कर देने की अदम्य अकूत शक्ति रखने वाली हिंदी भाषा, इन अतीव टुच्चे और मौकापरस्त आरोपों से कभी डरती नहीं हैं। वह तो अजस्र प्रवाहिनी है।

चुनाव के दौरान ऐसी भाषाई मुद्दे की ओछी राजनीति कतई शुभ नहीं। हाँ कुछ राय मैं जरूर देना चाहूँगी-

1. अगर हिंदी कर्नाटक की जनता नहीं समझ सकती तो, चुनावी प्रचार-प्रसार के दौरान हो या अन्य कोई सरकारी योजनाओं के कार्यक्रम क्यूँ न हो, दुभाषियों को नियुक्त करें, ताकि वे हिंदी के भाषणों को कन्नड़ भाषियों को आसानी से समझा सकें?
2. दिक्कत अनुभव कर रहीं प्रवासी लोगों की सहायता के लिए अपने ही लोग सामने आए।
3. ज्यादा से ज्यादा ऐसे सांकेतिक बोर्डों का प्रयोग हों, जिसमें भाषाई संप्रेषण की दुविधा ही न रहें।
4. भाषाई वर्चस्ववाद या गुलामी मानसिकता से बाहर आकर हर व्यक्ति अपनी भाषाई अभिमान के साथ साथ अन्य भाषाओं के प्रति भी सौहार्दता की मानसिकता को पालें। ताकि प्रवासी वर्ग भी कभी यह न महसूसें कि वे अपने राज्य और मिट्टी से दूर आए हैं और राज्य के लोग भी उन्हें हिंदी का आदमी या बाहर का आदमी न समझे ऐसा सद्ब्यवहार प्रवासी वर्ग का भी रहे। भाषाई ताल-मेल की छतनार की ठंडक में विविध जनसमुदायी जीवन बसते हैं। भाषाई विवादों के आँच में तो बस राजनीतिक रोटियाँ ही सेंकी जाती हैं।

Citation: अंबेकर, परिमळा (2018). क्या भाषा थोपने की चीज है, HindiTech: A Blind Double Peer Reviewed Bilingual Web-Research Journal, 9 (2), 7-11. URL: <https://hinditech.in/kya-bhasha-thopne-ki-chij-hai/>